जडें

मुझपर उत्तर भारतीय संगीत की जडों तक पहुंचने की नौबत क्यूं आन पडी इसका यह एक लेखा जोखा। मानी हुई बात है कि संगीत प्रवाही आकारतत्व है, चित्रफलक की भांति वह स्थिर नहीं। मैं यहाँ जिस संगीत की बात कर रहा हूँ वह विगत सौ सवासौ सालों में उत्तर हिन्दुस्तानी गायन पद्धति में जिसने जड़ पकड़ी है उस रागसंगीत की है। कुमार गन्धर्व जी की मान्यता थी कि हमारा रागसंगीत पृथ्वीगोल पर संगीत की जितनी विधाएँ हैं, उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं। मैं समझता हूँ कि कुमारजी ने ऐसा क्यूँ कहा होगा इसका समाधान यह आलेख पढ़कर होगा।

मेरे बाल्यकाल में मेरे पिता, श्री. वामनराव देशपांडे, 'घरंदाज गायकी' (घरानेदार गायकी) नामक ग्रन्थ की रचना कर रहे थे। यह समय १९६० के दशक का होगा। उत्तर भारतीय संगीत के 'घराने' याने ही विशिष्ट एवं विभिन्न सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टिकोणों का कम से कम तीन पीढियों में पाया जाने वाला सातत्य, सिलसिला होता है; हर घराने की बढ़त के अपने निजी कायदे कानून होते हैं, इन बातों पर कटाक्ष करने वाला यह प्रथम ग्रंथ है एवं इस विषय को लेकर उठने वाले कई प्रश्नों को समाये, समेटे हुए है। इस ग्रंथ की सिद्धी हेतु वामनरावजी महाराष्ट के प्रसिध्द कवी–साहित्यकारों और विभिन्न घरानों के गायकों की जमघट अपने घर पर जुटाकर अपने आगामी ग्रंथ के एक एक अध्याय का पाठ करते थे। इन मंडली की प्रतिक्रिया–क्रिया, विशेषतः गायकों की, साक्षात गाकर ही व्यक्त होती थी। इन गवैयों की एक दूसरे की गायकी को लेकर व्यक्त होने वाली आलोचनात्मक प्रतिक्रियाओं में वामनरावजी अपने ग्रंथ के लिये कुछ सांगितिक तथ्य तलाशते रहते थे और मैं इन रोमांचक घटनाओं का उस लरकैया उमर में अप्रगल्भ साक्षी बना रहता था।

तब ऐसा दौर चल रहा था, कि संगीत के आगरा, जयपुर, ग्वालिअर, किराना यह सभी घराने अपने परम उत्कर्ष पर थे और हर घराने की गायन परम्परा का अलगपन दुसरे से बहुत स्पष्ट था। हक़ीकत तो यह है कि इन घरानों के मूर्धन्य कलाकार अपने घर से बहार आकर जब महाराष्ट्र, और खास तौर पर बम्बई में अपनी कलाप्रस्तुति करने लगे, तब जाकर इनकी सांगीतिक शैलियाँ महाराष्ट्र की ढीली, सर्वसमावेशी, उपजाऊ, रसिक मिट्टी में 'जडें' पकड़ने लगीं। घर छोड़ने पर वे घरानेदार बने। घर में ही रहते तो बेघर जाने जाते। संगीत को भी बे-दरोदीवार सा एक घर चाहिये होता है।

ऐसा लगता था कि रागसंगीत के माध्यम से ये कलाकार राग-ताल के दायरे में रहते हुए अपनी बात कह रहे हैं, अपनी कहानी सुना रहे हैं - उस कहानी में सुप्त भावभंगिमाओं के साथ। इन गवैयों की आवाज़ के उतार-चढ़ाव से इन कहानियों के बतियाने में कभी भीने भावुक मोड़ आते थे तो कभी भीषण भयस्वप्न। कभी लगता था कि इनके गायन में हौले से किसी राज़ की गुफ्तगू हो रही हो, तो कभी उस रहस्य को नष्ट करने वाली घोषणा। राग की चिरंतन अधकही अकथ कथा सुनाने का इन गायकों का अथक उत्साह मुझे अचंभित करता था। ऐसा क्या प्रलोभन है जो इन्हें विवश करता है यह करते रहने के लिए? वह क्या चीज़ हो सकती है कि जो गायन में राग-ताल के व्याकरण के 'जड़' नियमों का पालन करते हुए भी चेतना का परिचय देती है? आदि प्रश्नों से मैं व्याकुल हो उठता था और परेशान था कि क्या मैं अपने तरीके से कभी किसी राग की कहानी सुना पाऊँगा? हौले हौले समझ में आ रहा था कि राग की कहानी में स्वर ही प्रमुख पात्र होते हैं मगर ताल के आवर्तनों के मंच पर जो घटनाएं घटित करता है वह गायक केवल गायक ही नहीं बल्कि नाटककार, दिग्दर्शक और अभिनेता भी है। ये घटनाएँ और उनका क्रम अछे गायन में न तो पूर्वनिश्चित होता है, ना ही ये दोहराई जातीं हैं। ताल के विभिन्न परिप्रेक्षों को उपयोग में लाकर घटित स्वरवाक्य के कई सांगीतिक अर्थों का निष्पत्ति संभव होती है और अकीरो कुरोसावा के प्रसिद्द चलचित्रपट 'राशोमान' की याद आती थी। इन बातों से संगीत एक आत्मचिंतन और

फलसफे के स्तर पर जा पहुँचता है | Aesthetics (सौंदर्यशास्त्र) को भी दर्शनशास्त्र की एक शाखा ही माना गया है |

समझ में आया कि यह रागसंगीत ख्यालगायन द्वारा ही अधिकांश प्रस्तुत किया गया है | ख्याल गायन विलंबित, मध्य और द्रुत बंदिशों द्वारा पेश किया जाता है | ये बंदिशें उपज अंग से, अपनी तबियत से, अपने तरीके से पलुहा के बढ़ाई जातीं हैं, विस्तारित हो पातीं हैं | इसके लिये पर्याप्त शब्द है 'बढ़त' | बंदिशों की 'बढ़त' होती है | रागताल के दायरे में रहते हुए तालों के आवर्तनों में संगीत बांधा जाता हैं | ऐसी आवर्तनों की मालिका से ही बंदिश की बढ़त साकार होती है | ये आवर्तन पूर्वनिश्चित नहीं होते, पर गायकों द्वारा ग्रहण किये हुए संस्कार, उनकी स्मृती और उनकी तात्काल स्फूर्तता इनके बांधने में कार्यरत होती है | किसी अनोखे अंदाज़ से ये आवर्तन जब पेश होते हैं, सम पर लाए जाते हैं, तब एक ताज़गी का अनुभव होता है और इसे ही शायद नवनिर्माण समझा जाता है | यह नवनिर्माण अनेकों बार पारंपारिक कलामूल्यों की पुनर्रचना ही होता है | इस संगीत में निरंतर नवनिर्माण की गुंजाइश है, यह गायकों की धारणा इसी बलबूते पर बनी है | पारंपारिक कलामूल्य की संकल्पना और इन कलामुल्यों के पुनर्रचना की प्रक्रिया स्पष्ट करना चाहूंगा।

पारंपारिक कलामूल्य अमिट हैं | जैसे कि लयक्रीडा (lilt), श्रुतियों की कंपनसंख्या का अपनी संवेदना से चयन, सुरों के आपसी रिश्तों का गठन कर सुरों के समूह बनाना, जो आगे जाकर रागवाचक मुहावरे बनते हैं और राग की बढत में अक्सर दोहराएं जातें हैं | फिर शब्द हैं, शब्दों का भाषिक अर्थ और उसके परे शब्दों का नादार्थ है, शब्द के उच्चारण में सुप्त अभिनय और नृत्यमयता है | इन सब पारंपारिक कलामूल्यों के अनोखे और विभिन्न कलात्मक उपयोगों से परंपराएं बनतीं हैं और इन्हीं मूल्यों की पुनर्रचना से परंपराएं प्रवाहित रहतीं हैं और किसी दूसरी परंपरा के प्रवाह से जुड भी जातीं हैं | इसे ही नवनिर्माण समझा जाता है | बात स्पष्ट है कि पारंपारिक मूल्य सर्व समावेशी होते हैं और उनसे निकलीं परंपराएं भी | Contemporary idiom को समातीं हुईं परंपराएं प्रवाहित रहतीं हैं | ये पारंपारिक मूल्य कला के पट के भीतर निरंतर एक महीन लचीलापन पा लेते हैं, अडिग नहीं रहते | यही तो कला का, सृजन का, उपज का क्षेत्र है | अच्छा गायक इन पारंपारिक कलामूल्यों को विशिष्ट और निश्चित मात्रा (proportions) में अपने गायन में समाकर हमेशा के लिये एक ही खिचडी पकाता नहीं रहता | अपनी प्रस्तुती का एकही formula निरंतर नहीं अपनाता | फिर करता क्या है ? करता यह है कि बंदिश की जरूरतों के अनुसार और अपने स्वयं के उस वक्त के भाव और कंठ की स्थिती के अनुसार इन पारंपारिक मूल्यों (इसमें विगत चार पांच दशकों में प्रस्थापित आलाप, बोल आलाप आदि अष्टांग भी आते हैं) को अपने गायन में अलग अलग proportions में कभी शामिल कर या कभी टाल कर अपना नितनूतन अनोखा रसायन सौंदर्य की खोज में बनाता रहता है |

गायानाचार्य बाळकृष्णबुवा इचलकरंजीकर, जो की विष्णु दिगंबर पलुस्कर जी के गुरु थे,रागविस्तार को राग का पेड़ बाँधने की उपमा देते थे | इसे मद्देनज़र रखते हुए महसूस हुआ कि कि राग का पल्लवित वृक्ष, उसकी शाखाओं का लयबद्ध विस्तार और उसपर आया हुआ श्रुतियों का बौर - इन सब का पुनर्निर्माण याने ही पुनर्रचना अगर करनी है तो इस संगीत की जड़ो तक पहुंचकर, वहीं से ही काम शुरू करना पड़ेगा | अब नौबत आन पड़ी इन जडों का अन्वेषण करने की|

संगीत के इतिहास पर गौर करें तो पता चलता है कि उत्क्रांतीवश ३, ४ स्वरों की धुन को प्राप्त सप्तक... इस सप्तक के परिणामस्वरूप बना हुआ रागसंगीत और उत्तर भारतीय तालक्रिया की खालीभरी की खासियत, ये दो मूलतत्व ही हमारे चेतन संगीत की जडों में समाए हुए हैं | इन दो

पैरों पर ही उत्तर हिंदुस्तानी अभिजात संगीत की नवनिर्माण की शक्यताएं दिल और कंठ में संजोए हुए गायक स्वर के आलम में नई डगरें, नई पगडंडियां बनाकर, नए सौंदर्यस्थलों की प्राणप्रतिष्ठा कर इनकी निरंतर स्वरयात्रा करते रहते हैं, करते रहने वाले हैं यह मेरी धारणा है। " माया महा ठगनी हम जानी, पंडा कै मूरत व्है बैठी, तीरथ में भई पानी ! "

इन दो खासियतों को और स्पष्ट करना चाहूंगा।

१) तीन-चार स्वरों की लोकधुन को प्राप्त सप्तक के परिणामस्वरूप संभव रागसंगीत की निर्मिती

लोकधुनों को सुनने से यह स्पष्ट हो जाता है कि, इनमें गिने चुने स्वरों का ही उपयोग किया गया है। पूर्वांग, उत्तरांग की तो बात ही दूर की है, इन स्वरों के संचार की व्याप्ती संपूर्ण सप्तक को भी नहीं छू पाती है।

ऐसे लोकधुनों में संभाव्य सांगीतिक आशय का सशक्त बीज नजर तो आता है, परंतु उस बीज के संपूर्ण सांगीतिक विकसन की वहाँ गुंजाइश नहीं है।

इन हालातों में सुनी हुई लोकधुन का षड्ज या आधारस्वर निश्चित करना, उसमें स्थित स्वरों के आपसी रिशतों का खयाल रखते हुए, व रचना का मूल आकारतत्व कायम रखते हुए, संपूर्ण सप्तक में उसका चलन तय करना, और परिणामस्वरूप लोकधुन की पुनरुक्ति से छुटकारा पा लेना – याने ही लोकधुन को रागसंगीत में परिष्कृत करना, अभिजात करना।

यहाँ बडे आग्रह से और जोर दे कर कहना होगा, कि किसी विचारवान प्रतिभा द्वारा लोकधुन को परिष्कृत करने की यह प्रक्रिया पूर्ण होने पर भी, लोकधुन कालबाह्य या गैरगुजरी वस्तु नहीं बन जाती है। एक सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टीकोंण यह भी है की ख्याल सुनते वक्त लोकधुन की सादगी, सहजता, रचना के आकारबंध का एहसास, लोकधुन की पुनरुक्ति और उसका सातत्य आदि बातों का और लोकधुन के परिष्कृत रागरूप में निहित विस्तार की शास्त्रीय शक्यताओं का, मेल व संतुलन कौन कलाकार कैसे साधता है, इसकी अनुभूति लेना गायक और श्रोताओं के लिये सदा ही एक कौतुहल का विषय बन जाता है। यह सौंदार्यशास्त्रीय दृश्टिकोण जिन रागों की लोकधुन नहीं मिलती वहां भी लागू होता है। उदाहरण की तौर पर, राग बिहाग की लोकधुन उपलब्ध नहीं है। तब कुमार गंधर्व इस ही राग में एक धुन की कल्पना कर उस धुन को सप्तक के मध्यवर्ती रख कर उसके इर्द गिर्द राग का शास्त्र रच बस देते थे और अपने ख्यालगायन में जिसे प्रस्थापित करते थे, वह धुन ही का विस्तार होता था। जिन रागों की लोकधुन नहीं मिलती थी वहां कुमारजी अक्सर यही रवैया अपनाते थे। इस धुन से ही राग का चलन (gait) बनता है। बहुतांश कलाकार राग के इस gait को दुर्लक्षित कर केवल राग के scale के permutation-combinations करते रहते हैं, जिसे मैं निकृष्ट कला मानता हूं।

२) केवल उत्तर भारतीय संगीत में पाई जाने वाली खाली भरी युक्त तालक्रिया

अखंड और अक्षुण्ण नवनिर्माण के स्त्रोत की भूमि इस संगीत की तालक्रिया है। सुगम संगीत में ५, ६, ७, ८ मात्राओं के ताल इस्तेमाल किये जाते हैं। इनके आवर्तन अल्पजीवी होते हैं। अभिजात संगीत में सुगम संगीत के तालों की मात्राएं दुगनी होकर क्रमषः १०, १२, १४, १६ के झपताल, एकताल, झूमरा, तीनताल आदि दीर्घजीवी आवर्तनों के ताल प्रयुक्त होते हैं। इनके पहला आधा और दूसरा आधा ऐसे दो हिस्से होते हैं जो और किसी तालपद्धति में नहीं पाए जाते हैं। इन्हें 'भरी' और 'खाली' के नाम से संबोधित किया जाता है। ये ताल के दो हिस्से, एक सफ़ेद और एक काला, ऐसे blocks नहीं हैं। इनके बीच एक crescendo है और लगातार बजते रहने से ताल के ठेके का

एक झूला बन जाता है। इसके लिये जिम्मेदार हैं हमारे तालवाद्यों की भाषा (दुनियाभहर के तालवद्यों में केवल हमारे पखावज और तबले जैसे तालवाद्यों को अपनी एक भाषा होती है, जिसमे शब्द होते हैं और इन शब्दों के क्रियापदयुक्त वाक्य बनते हैं)। सही लय में कहे जाने वाले एकताल के बोल अगर 'धिन् धिन् धिगे त्रक धी ना, तिन् तिन् ताके त्रक ती ना ' ऐसे होते तो झूला नहीं बन पाता। झूला इसलिये बनता है क्यूं कि हम कहते हैं 'धिन् धिन् धागे त्रक तू ना, कत तिन् धागे त्रक धी ना '। हमारे तालवाद्यों को प्राप्त इस भाषा के परिणामस्वरूप ही यह खाली भरी की खासियत मात्र हिंदुस्तानी ताल पद्धति में ही पाई जाती है। इसी कारणवश बंदिश गा देने के बाद आवर्तन में मात्र मुखडा ही दोहराया जाता है। मुखडा गाने के बाद आवर्तन की शेष विस्तृत जगह (space) कलाकार द्वारा अच्छे बुरे ढंग से रागरूप बांधते रहने के लिये उपयोग में लाई जाती है। इस space में व्यंजनों द्वारा नए नए आघातस्थान बनाकर भिन्न भिन्न स्वरवक्यों की रचना की जाती है। जिन पारंपारिक कलामूल्यों की बात मैं पहले कर चुका हूं उनकी पुनर्रचना इस ही क्रिया से संभव होती है ! हर कलाकार के लिये ! अपनी हर प्रस्तुती में ! यहां मुखडे की लंबाई को कम-ज्यादा करते हुए परिणामस्वरूप आवर्तन में बची शेष जगह /अवकाश /space को ज्यादा-कम करने की गुंजाइश यहां कलाकारों को नसीब होती है, जिसका कलात्मक उपयोग वे कर सकते हैं। आवर्तन बांधते हुए धुन को सप्तक में लाकर उसके भीतर शास्त्र रचा जाता है और ऐसे आवर्तनों की मालिका बनती है। ऐसे अनेक आवर्तनों की शृंखला याने ही अभिजात संगीत। आवर्तनों की यह शृंखला रागरूप को जकडकर नहीं रखती, बल्कि वह रागरूप को सहेजते हुए, उसकी खोजबीन करते हुए राग के तानाबेंानों की उधेडबुन करती रहती है। यह प्रक्रिया, या process ही अभिजात संगीत की पेशकश है। जिसे सब एक साथ गा सकें ऐसा यह संगीत एक product नहीं है।

धुन से परिष्कृत रागसंगीत और तालक्रिया, इन उत्तर भारतीय संगीत की जडों में सुप्त, समाए हुए मूलतत्वों का मैने यथाशक्ती परिचय दिया है। उत्तर भारतिय ख्याल संगीत में पुनर्रचना कर नवनिर्माण करने की जिन्हें अभिलाषा है, उनके लिये इन जडों में बसे मूलतत्वों का अभ्यास करना अनिवार्य है। वर्तमान में संगीत शिक्षण की विद्यालयीन और गुरू शिष्य परंपराओं में इसका बहुतांश अभाव ही दिखाई देता है।

और कहना चाहूंगा कि इस अभिजात संगीत में कला के गूढ रम्य प्रदेश, शास्त्र एवं व्याकरण की सीमा से सटे हुए होते हैं। मेरी यह धारणा है कि कलाकार गाते समय शास्त्र, व्याकरण और इससे सटे हुए कला के गूढरम्य प्रदेशों की अनिश्चित सीमारेखा, आवर्तनों की शृंखला द्वारा झुलाता रहता है। आवर्तन भरने की यह क्रिया दाक्षिणात्य कृतीगायन और पाश्चिमात्य 'सिंफनी' जितनी पूर्व निश्चित नहीं है। अपने संस्कार लिये हुए, अपनी तात्काल स्फूर्तता का उपयोग कर, उपज अंग से विभिन्न कलाकार वहीं राग, वहीं बंदिश अलग ढंग से गा सकते हैं। देश के दो तिहाई हिस्से में गाए जाने के कारणवश इस संगीत में विभिन्न प्रादेशिक विशिष्टताएं समाई हुईं हैं, जैसे के मिजाज, बोलीभाषाएं, उनके उच्चारण की विविधताएं, उनकी कहन, आवाज का लगाव आदि, जिनसे आवर्तनों के बांधने में अलग अलग किस्म का लुत्फ़ आता है।

लुत्फ़-ए-मय तुझसे क्या कहूं जाहिद?

हाय कंबख्त तूने पी ही नहीं।

- सत्यशील देशपांडे,
२०१, सिल्वर बेबी सोसायटी, सुंदर नगर रोड २,
कालीना, सांताक्रुझ पूर्व, मुंबई ४०००९८
+९१-९८२०३२२४५२ | satyasheeld@yahoo.com | www.satyasheel.com